भज गोविन्दम्

व्याख्याता

श्रीमती के.शांता

तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्

तिरुपति

भज गोविन्दम्

जगद्गुरु
श्री आदि शंकराचार्य विरचित भज गोविन्दम्
की हिन्दी में व्याख्या

व्याख्याता
श्रीमती के.शांता

तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्
तिरुपति
2015

BHAJA GOVINDAM

By.
Smt. K. Santha

T.T.D. Religious Publications Series No. 1068
©All Rights Reserved

First Edition - 2015

Copies : 2000

Price :

Published by
Dr. D. SAMBASIVA RAO, I.A.S.,
Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams,
Tirupati.

D.T.P:
Office of the Editor-in-Chief
T.T.D, Tirupati.

Printed at :
Tirumala Tirupati Devasthanams Press,
Tirupati.

आमुख

कभी - कभी भगवान स्वयं कोई योनी धारण करके इस पृथ्वी पर उतर आता है और अपनी लीलाओं की अमिट छाप यहाँ छोड़ जाता है । भगवान की लीलायें मनुष्य जाति के लिये जीवनादर्श और मार्गदर्शी होते हैं । इसीलिये राम और कृष्ण हमारे स्तुत्य एवं पूजनीय देवता रूप हैं । एकदा समय केरल राज्य के चूर्णा नदी के कूल पर स्थित कालड़ी नामक गाँव में शंकराचार्यजी का जन्म हुआ । आर्याम्बा और शिवगुरु, शंकराचार्य के वन्दनीय माता-पिता हैं । वे शिव के अनुपम भक्त थे, उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर, शिव ने उन्हें वर दिया कि मैं स्वयं तुम्हारे घर पर जन्म लूँगा । शंकराचार्य, साक्षात् शिव के अवतारी पुरुष इसलिए माने जाते हैं ।

शंकराचार्य जी ने 'अद्वैतवाद' की स्थापना की । इस वाद के द्वारा उन्होंने आत्मा (जीव) और परमात्मा (अनंत) में अभेद स्थापित किया । 'भज गोविन्दम्' उनकी रचना है जो ३१ (इक्तीस) श्लोकों का संकलन है । प्रत्येक श्लोक जीवन के रहस्य का उद्घाटन करता है । उनका कहना है कि भगवान को पहचानने के लिये बाहरी जगत में ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है, भगवान हमारे ही मन में स्थित है, अपने हृदय में विराजमान ज्ञान को जान लेंगे तो भगवान में हम एकात्मता को प्राप्त कर ही लेंगे । मूढ़मति या अज्ञानियों को सही रास्ता दिखाने के लिये बड़े - बड़े महात्माओं, साधु व सन्यासियों, कवियों, आदि के नीति परक वचन बहुत काम आते हैं । शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत ने इसीलिये

उनको जगद्गुरु बना दिया । उनके द्वारा विरचित 'भज गोविन्दम्' की स्तुति सामान्य प्रजा का दिक्दर्शक है । आशा करता हूँ कि इस लघुकाव्य के पठन - पाठन से पाठक सभी लाभान्वित होंगे और कलियुग दैव श्रीनिवास भगवान के कृपा पात्र बनेंगे ।

सदा श्रीहरि की सेवा में

कार्यनिर्वहणाधिकारी,
तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्,
तिरुपति

जगद्गुरु श्री आदि शंकराचार्य जी विरचित ''भज गोविन्दम्'' की हिन्दी में व्याख्या

परिचय - ''भज गोविन्दम्'' जगद्गुरु श्री आदि शंकराचार्य जी द्वारा विरचित अत्यन्त लघु काव्य है। इसका काव्य सौन्दर्य, नाद सौन्दर्य और शब्द सौन्दर्य पण्डित-पामरों का ही नहीं शिशुओं और पशुओं के लिए भी कर्ण प्रिय और मधुर हैं। अतः इसे गीतिकाव्य कहना अनुचित न होगा। रामायण श्री सीता राम की कथा है तो महाभारत कौरव पाण्डवों की कथा है तथा भागवत् कथा में श्री कृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन है। पर श्रीमद्भगवत्गीता में कोई कथा नहीं है बल्कि ये जगद्गुरु श्री वासुदेव के मुखकमल से निकले हुए वचन हैं जो हर हिन्दू के लिए पूजनीय, पठनीय और अनुसरणीय हैं। इसी प्रकार भज गोविन्दम् में भी कोई कथा नहीं है वरन् आदि शंकर जी ने इसमें मूढ मन को चेताते हुए कहा है कि हे मूर्ख, भोग विलास और माया से भरा हुआ यह संसार क्षणभंगुर है। तू इस माया जाल में मत फँस। इस भवसागर से पार पाने का एक ही रास्ता है और वह है गोविन्द का भजन।

भारतवर्ष के दक्षिणाग्रभाग में स्थित केरल राज्य की चूर्णा नदी के तट पर बसे कालड़ी नाम के छोटे से गाँव में हुआ था शंकराचार्य जी का जन्म। इनके पिता शिवगुरु तथा माता आर्याम्बा शिवजी के अनन्य भक्त थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर स्वयं शिवजी ने उनके यहाँ पुत्र के रूप में जन्म लिया। यह घटना ईसा पूर्व चार सौ से लेकर पाँच सौ वर्ष के बीच में घटी थी।

आचार्य शंकर के माता पिता शिवजी के अनुपम भक्त थे। उनकी आराधना से प्रसन्न होकर शिवजी ने पुत्र के रूप में उनके घर में जन्म

लेने का वरदान दिया। शंकर आठ साल की उम्र में वेद पारंगत बन गए, बारह वर्ष की आयु तक सभी शास्त्रों का अध्ययन कर सोलह वर्ष की उम्र में उन्होने ''शंकर भाष्यम्'' की रचना की। यही नहीं जिस समय में आवागमन के साधन नहीं थे उस समय देश की चारों दिशाओं में यात्रा की और शंकर मठों की स्थापना की। बत्तीस वर्ष की युवावस्था में उन्होंने ईश्वर सायुज्य को प्राप्त किया।

भगवान शंकर का जन्म ऐसे समय में हुआ था जब सारा भारत अलग-अलग धर्मो और मतों को लेकर कल्लोलित था। हर छोटा-मोटा साधु या पण्डा अपने आप को ज्ञान का प्रकाण्ड पण्डित और इस जग का एक मात्र पथप्रदर्शक या उद्धारक मानता था। हर किसी का अपना-अपना शिष्य समुदाय था। अपना अलग पंथ, अपने सिद्धांत और अपना अलग दर्शन था।

''अनेकता में एकता'' के सिद्धांत का अनुयायी आर्यावर्त आपसी भेदभाव, संघर्ष और ईर्ष्याद्वेष से उथल पुथल हो रहा था। ऐसे कठिन धार्मिक असमंजस और दुविधापूर्ण समय में आदि शंकर का जन्म हुआ। उन्होंने अद्वैत मत की स्थापना कर सारे देश को एक सूत्र में बांधा। ''अद्वैत'' का अर्थ है ''द्वैत या दुविधा का न होना'' अर्थात् आत्मा और ईश्वर का दो नहीं एक होना। ईश्वर हम में ही बसते हैं। हम ईश्वर से अलग नहीं हैं। अद्वैत हमें यही सिखाता है।

एक दिन शंकराचार्यजी काशी की एक गली में अपने शिष्यों के साथ जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक वृद्ध संस्कृत व्याकरण पण्डित, व्याकरण सूत्रों को ऊँची आवाज में मनन कर रहे थे। उस वृद्ध के पास जाकर वे बोले ''मृत्यु जब दरवाजे पर खड़ी होती है तब ये व्याकरण

सूत्र काम नहीं आते हैं। तुम अपनी आत्मा और बुद्धि गोविन्द के भजन में लगाओ। उनका यही उपदेश ''भज गोविन्दम्'' के नाम से विख्यात हुआ। उनकी इस कृति का यह पहला श्लोक भी है। इस श्लोक के बाद उन्होंने जीवन की सच्चाइयों और हमारे कर्तव्य को उजागर करते हुए बारह श्लोक और लिखे जो ''द्वादश मञ्जरिका स्तोत्रम्'' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके साथ जो चौदह शिष्य उस समय थे उनमें से प्रत्येक ने एक श्लोक कहा जो सब मिलकर ''चतुर्दश मञ्जरिका स्तोत्रम्'' कहलाते हैं। अंत में शंकराचार्य जी ने चार श्लोक और कहे। इस प्रकार १+१२+१४+४=३१ श्लोकों वाला यह लघु काव्य ''मोहमुद्गरः'' भी कहलाता है।

इन ३१ श्लोकों में अद्वैत वेदांत का सार है जिनमें भावोद्वेग और भाव गांभीर्य अद्वितीय हैं। अनेक भाषाओं में अनूदित यह ग्रंथ श्री मद्भगवद्गीता के समान ही मन के भावोद्रेकों को, चंचलता को स्थिरता देकर अपूर्व शांति प्रदान करता है। साथ में इसकी भाषा इतनी सरल, सहज और कोमल है कि आसानी से हर किसी की समझ में आ जाए। भाषा जितनी सरल और ललित है विचार उतने ही स्पष्ट, गहरे और मर्मस्पर्शी हैं।

''भज गोविन्दम्'' की एक और विशेषता यह है कि शंकराचार्य जी के गुरू जी का नाम भी गोविन्द ही था। इस तरह ''गुरु गोविन्द दोऊ खडे- - - - -'' दोहे को चरितार्थ करते हुए उन्होंने अपने गुरु गोविन्द और परमात्मा गोविन्द को एकाकार मानकर उन दोनों की स्तुति एक साथ की है।

भज गोविन्दम्

1. **भज गोविन्दं भज गोविन्दं**
   गोविन्दं भज मूढमते।
   संप्राप्ते सन्निहिते काले
   न हि न हि रक्षति ''डु कृञ् करणे''।

शब्दार्थः भज-भजन करो, गोविन्दं-ईश्वर, मूढ़मते-हे मूर्ख, सम्प्राप्ते-प्राप्त होने पर, आने पर, सन्निहिते-निकट, काले-काल (मृत्यु), नहि-नहि-कभी नहीं, रक्षति-रक्षा करना, डुकृञकरणे-व्याकरण के नियम।

अर्थः हे मूर्ख! तू सदा सर्वदा गोविन्द का भजन कर। जब मृत्यु तुम्हारे निकट हो तब ये व्याकरण नियम तेरी रक्षा नहीं करेंगे।

विशेषः भज गोविन्दम् के जो ३१ श्लोक हैं उन्हें गाते समय हर श्लोक के बाद इस प्रथम श्लोक की पुनरावृत्ति होती है जिससे इस सारे गीतिकाव्य का नाद सौन्दर्य बढ जाता है और माधुर्य गुण में वृद्धि होती है। यहाँ भजन का अर्थ केवल जोर-जोर से गाकर या ताली पीटकर भजन करना नहीं वरन् हमारी आराधना में नव विधा भक्ति (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पदसेवन, अर्चना, वंदना, दास्य, सख्यता, आत्मनिवेदन) का समावेश होना है, अर्थात् ईश्वर की भक्ति मन, वचन, कर्म से होनी चाहिए। श्री आदि शंकर हमें सावधान करते हुए कहते हैं कि ईश्वर भक्ति के अलावा संसार के किसी भी शास्त्र का ज्ञान मृत्यु से हमारी रक्षा नहीं कर सकता।

2. **मूढ जहीहि धनागम तृष्णां**
   कुरु सद्बुद्धिं मनसि वितृष्णाम्।

यल्लभसे निजकर्मोपात्तं
वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः मूढ-हे मूर्ख, जहीहि-त्याग दे, धनागम तृष्णां-दौलत की प्यास, कुरु-करो, सद्बुद्धिं-सुविचार, मनसि-मन में, वितृष्णां-वासना रहित या विमुख, यत्+लभसे-जो मिलता है, निज कर्मोपात्तं-अपने कर्मों के फलस्वरूप, वित्तं-धन, तेन-उससे, विनोदय-तृप्ति या आनंद, चित्तम्-मन को।

अर्थः हे मूढ़! धन प्राप्ति की लालसा का त्याग कर, अपने चित्त को वासना रहित बना, सुविचारों में मन लगा। अपने कर्मों के अनुसार तुम्हें जो कुछ प्राप्त होता है, उसी से तृप्त होना सीख।

विशेषः भारतीय दर्शन यह कभी नहीं कहता है कि धन को पूरी तरह त्याग दो। ईश्वर के दिए हुए शरीर और जीवन का संरक्षण करने के लिए हमें धन की आवश्यकता है ताकि उस शरीर से जन्म साफल्य के लिए हम सत्कर्म कर सकें। पर जब हमारी इच्छाएँ असीमित हो जाती हैं और लालसा का रूप धारण कर लेती हैं तब हमारा पतन प्रारंभ होता है। इसीलिए हमें जो प्राप्त होता है उसे अपने पूर्व जन्मों का फल मानकर उसी में तृप्त होना हमारा कर्तव्य है। वे मूर्ख होते हैं जो बार-बार गलतियाँ करते हैं और फलस्वरूप दुःख भोगते हैं। इसलिए अधिक धन एकत्रित करने की लालसा का परित्याग कर देना चाहिए। सांसारिक लालसाओं का त्याग करने पर हृदय वासनारहित और पवित्र हो जाता है। ऐसे पवित्र हृदय को ईश्वरोन्मुख करना आसान होगा।

3. नारी स्तनभर नाभीदेशं
दृष्ट्वा मा गा मोहावेशम् ।

एतन्मांसवसादि विकारं
मनसि विचिन्तय वारं वारम् ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः नारी-स्त्री, स्तनभर-स्तनों का भार, नाभीदेशं-नाभि प्रदेश, दृष्ट्वा-देखकर, मा-नहीं, गा-शिकार होना, मोहावेशम्-अत्यधिक मोह के आवेश में, एतत्-यह, मांस,वसा-चर्बी, विकारं-विकार वासना, मनसि-मनमें, विचिन्तय-विचार कर, वारं-वारं-बार-बार।

अर्थः स्त्री के अंगों को देखकर मोह से उन्मत्त मत हो जाओ। ये अंग केवल माँस, मज्जा और वसा से बने हैं। इस बात को बार-बार विचार करने पर विषय वासनाओं से दूर रहा जा सकता है।

विशेषः मनुष्य के पतन के दो मूल कारण बताए गए हैं। एक है कंचन (धन-दौलत), दूसरे श्लोक में जिसका विसर्जन करने को कहा गया है और दूसरा कारण है स्त्री। आदि शंकर सावधान करते हैं कि हे मानव! स्त्री के माँसल शरीर की सुंदरता और उससे मिलनेवाला सुख शाश्वत नहीं हैं। वह तुम्हें पतन के गर्त में धकेल देगा। तुम्हें दुःख और अशांति देगा। यह श्लोक स्त्री और पुरुष दोनों के लिए अन्वित होता है और हमें सावधान करता है कि हे मनुष्य! तुम शारीरिक भोग विलास की लालसा में पड़कर अपना विनाश मत करो।

स्त्री और पुरुष का आकर्षण सहज है और संसार चलाने के लिए आवश्यक भी है। पर उसमें वासना न होकर पवित्रता, आत्म-संयम और अनुशासन का होना अति आवश्यक है। वरना मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं रह जाएगा।

4. नलिनीदलगतजलमतितरलं
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ।

विद्धि व्याध्यभिमानग्रस्तं
लोकं शोकहतं च समस्तम् ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः नलिनीदलगत जलं-कमल की पंखुड़ियों पर स्थित पानी की बूंदें, अति-बहुत, तरलं-तरल अनिश्चित, तद्वत्-उस प्रकार, जीवितं-जीवन, अतिशय-बहुत, चपलम्-चंचल, विद्धि-समझो, व्याधि-रोग, अभिमान-घमंड़, ग्रस्तं-प्रभावित, लोकं-संसार, शोकहतं-शोक का मारा, समस्तं-सारा।

अर्थः जैसे कमल की पंखुड़ियों पर स्थित जल कण का अस्तित्व अनिश्चित होता है अर्थात् वह कभी भी नष्ट हो सकता है वैसे ही हमारा जीवन भी क्षणभंगुर होता है। यह सारा संसार बीमारियों, छल-कपट और दुःखों से भरा हुआ है। इस बात को अच्छी तरह जान लो।

विशेषः इस श्लोक में आदि शंकर समझाते हैं कि कमलपत्र पर जिस प्रकार एक छोटा-सा जल-कण डोलायमान है उसी तरह हमारा जीवन भी अशाश्वत है। यह तात्कालिक जीवन भी व्याधियों, दुःखों, छल-कपट आदि से भरा हुआ है अर्थात् इस छोटी सी जिन्दगी में भी कहीं सुख चैन नहीं है बल्कि नाना प्रकार की समस्याओं और कठिनाइयों से जूझते हुए यह जिन्दगी कब अचानक समाप्त हो जाए उसका कुछ ठिकाना नहीं है।

यह श्लोक हमें यह बताता है कि चूंकि हमारे कुछ सोचने समझने या कोई सत्कर्म करने से पहले ही यह जिन्दगी समाप्त हो जाती है इसलिए हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम इसे बेकार की बातों में नष्ट करें। मृत्यु बताके नहीं आती कि कहाँ और किस समय आएगी इसलिए इसी स्थान पर जहाँ भी हम हैं और इसी समय, जिस अवस्था

में भी हैं हमें ईश्वर का ध्यान करना चाहिए, ईश्वर से लौ लगाना चाहिए।

इस श्लोक में हमें अद्वैत का बोध भी होता है। जिस प्रकार जल में उत्पन्न होकर, जल को आधार बना, उसी में पलने बढनेवाला कमल उसी में समाहित हो जाता है उसी प्रकार पंचभूतों से बना प्राणिमात्र का शरीर भी अंत में उन्हीं पंचभूतों को प्राप्त होता है। या यों कह सकते हैं कि एक विराट सत्ता से जन्म लेनेवाला प्राणी उसी विराट सत्ता में लीन हो जाता है।

5. यावद्वित्तोपार्जनशक्तः
तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाज्जीवति जर्जरदेहे
वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः यावत्-जब तक, वित्त-दौलत, उपार्जन-कमाना, शक्त-सामर्थ्य, तावत्-तब तक, निज परिवारः- अपना परिवार, रक्तः(अनुरक्तः) - लगाव, पश्चात्-बाद में, जीवति-जीना, जर्जर-शिथिल, नष्ट-प्राय, वार्तां-बोल, कोऽपि-कोई भी, पृच्छति-पूछना, गेहे-घर में।

अर्थः जब तक धन कमाने का सामर्थ्य तुम में है तब तक ही परिवार का तुमसे प्रेम या लगाव होगा। बाद में जैसे-जैसे तुम शिथिल देह के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त होगे तब कोई तुम्हें नहीं पूछेगा।

विशेषः संसार के सारे रिश्ते नाते धन पर ही आधारित हैं चाहे वह पति-पत्नी का रिश्ता हो बाप-बेटे का, भाई-बहन का हो या यार-दोस्त का अर्थात् व्यक्ति आजीवन भौतिक सुख-सुविधाओं के पीछे भागता

रहता है। उसके जीवन का लक्ष्य अपना और अपने परिवार वालों का सुख है। लेकिन हे नर! चारों ओर जो घट रहा है उसे देखकर क्या यह नहीं समझ जाना चाहिए कि जीवन का चरम लक्ष्य केवल धनोपार्जन, बचत और अगली पीढियों को धन-दौलत सौंपना ही नहीं है वरन् आत्मा की पवित्रता, शांति और नैतिक जीवन है जिससे जन्म साफल्य निहित है।

6. यावत्पवनो निवसति देहे
तावत्पृच्छति कुशलं गेहे ।
गतवति वायौ देहापाये
भार्या बिभ्यति तस्मिन्काये ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः यावत्-जब तक, पवनः- साँस, निवसति देहे-शरीर में निवास करता है, तावत्-तब तक, पृच्छति-पूछते हैं, कुशलं-कुशलता (स्वास्थ्य) गेहे-घर में, गतवति वायो-वायु के निकल जाने पर, अपाये-नष्ट हो जाना, बिभ्यति-ड़रना, भार्या-पत्नी, तस्मिन् काये-उस शरीर से।

अर्थः जब तक तुम्हारे शरीर में साँस है तब तक तुम्हारी कुशलता के बारे में सब पूछेंगे। पर जैसे ही शरीर के अंदर की साँस बाहर हो जाय (मृत्यु हो जाय) और शरीर नष्ट होने लगे तब उस शव को देखकर तुम्हारी पत्नी भी तुमसे भयभीत हो जाएगी।

विशेषः इस श्लोक में आदि शंकर हमें सावधान करते हुए कहते हैं कि यह हमारा जो शरीर है वह एक विश्राम गृह के समान है क्योंकि जन्म से पहले न हमारा शरीर था न मृत्यु के बाद यह होगा। अतः इस शरीर के प्रति अंधामोह ठीक नहीं है। शरीर के न होने पर भी हमारी आत्मा अमर है। यह उस परमात्मा का एक अंश है। इस आत्मा का परमात्मा से

मिलन के बारे में हमें सदा प्रयत्नशील होना चाहिए। यही हमारा कर्तव्य है। यही नहीं शरीर जब तक जीवित है तब तक सुंदर है, स्वस्थ है और आकर्षक है। ऐसे आकर्षक शरीर से जिसने कई वर्षों तक प्रेम किया वही तुम्हारी पत्नी भी तुम्हारी मृत्यु के बाद तुम्हारे इसी शरीर से ड़रकर दूर भागेगी। अतः सांसारिक संबंधों और सुखों के प्रति मोह को त्याग दो।

7. बालस्तावत् क्रीडासक्तः
तरुणस्तावत् तरुणीसक्तः ।
वृद्धस्तावत् चिन्तासक्तः
परमे ब्रह्मणि कोऽपि न सक्तः ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः बालः तावत्-बाल्य काल में, क्रीड़ा-खेल-कूद, आसक्तः- रुचि लेना, तरुण तावत्-युवावस्था, तरुणी-युवती, वृद्धः- बूढे, परमे- परमात्मा, ब्रह्मणि-ब्राह्मण, कः अपि-कोई भी।

अर्थः बाल्य काल में खेल-कूद में रुचि, जवानी में युवतियों के प्रति आकर्षण, वृद्धवस्था में चिंताओं से घिरे होते हैं। पर कोई भी परब्रह्म परमात्मा में ध्यान नहीं लगाता।

विशेषः मनुष्य जन्म से लेकर मरण तक निरंतर मिथ्या लालसाओं के पीछे भागता रहता है। वह यह नहीं सोचता है कि मानव जीवन बहुत छोटा है। जैसे जैसे एक-एक पल बीतता जाता है वह मृत्यु के करीब खिंचता जाता है। इस भाग दौड में वह इस प्रकार फँस जाता है कि वह यह सोचता है कि इन सब कार्यों को पूरा करने के बाद वृद्धावस्था में वह भगवान का भजन कर लेगा। इसके लिए तो अभी बहुत समय है। इस समय तो वह अनेक प्रकार के कामों में व्यस्त है। लेकिन जब तक वह

जागता है और ईश्वर में मन लगाना चाहता है तब मन और शरीर दोनों साथ नहीं देते। जिन्दगी बन्द मुट्ठी की रेत की तरह हाथों से फिसल जाती है। परमात्मा से प्रेम करने के लिए बुढापे का इन्तजार करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि बाल्यावस्था से ही भगवत् चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए।

8. का ते कान्ता कस्ते पुत्रः
संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्य त्वं कः कुत आयातः
तत्त्वं चिन्तय तदिह भ्रातः ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः का-कौन, ते-तुम्हारा, कान्ता-पत्नी, कः ते-कौन तुम्हारा, अयं-यह अतीव-बहुत, कस्य-किसका, त्वं-तुम, कुतः- कहाँ से, आयातः-आए, तत्त्वं-सत्य, चिन्तय-सोचो, तद् इह-यहीं पर, भ्रातः- भाई।

अर्थः कौन तुम्हारी पत्नी है और तुम्हारा पुत्र कौन है। वास्तव में यह संसार बहुत विचित्र (अनोखा) है। तुम किसके हो और कहाँ से आए हो? हे भाई! जरा इन सब बातों के बारे में यहीं पर विचार कर लो।

विशेषः स्वस्थ पारिवारिक संबंध जीवन में उन्नति के पथ पर ले जाते हैं। एक दूसरे की मदद से आगे बढते हैं और अपने जीवन को सार्थक बनाते हैं। लेकिन ध्यान रहे कि ये संबंध हमें मोह के पाश में न बाँधे। परिवार ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। भौतिक संबंधों से ऊपर उठने पर ही हमारे जीवन को सार्थकता मिलती है। जीवन की तुलना रेल यात्रा से की जा सकती है। रेल यात्रा में लोग अपने-अपने निश्चित स्थान में रेल के डिब्बे में चढ़ते हैं। कुछ समय तक साथ-साथ हँस बोल लेते हैं, खाते-पीते हैं। एक दूसरे की मदद करते हैं या वार्तालाप करते

हैं। फिर अपनी-अपनी मंजिल पर उतर जाते हैं। जीवन की इस यात्रा में परिवार का साथ कुछ समय के लिए ही होता है। फिर सब अलग हो जाते हैं। अतः माया मोह में फँसकर उसी को सब कुछ मान लेना कहाँ तक उचित है?

शंकराचार्य जी एक बडे भाई की तरह हमें हित अनहित को पहचानकर सही निर्णय लेने की प्रेरणा देते हैं।

9. सत्संगत्वे निस्संगत्वं
निस्संगत्वे निर्मोहत्वम् ।
निर्मोहत्वे निश्चलतत्त्वं
निश्चलतत्त्वे जीवन्मुक्तिः ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः सत्संगत्वे-अच्छी संगति, निस्संगत्वं-बंधन से मुक्ति, निर्मोहत्वं-निर्मोह, निश्चल तत्त्वं-स्थिर बुद्धि, जीवन्मुक्तिः- सांसारिक बन्धनों से आजादी।

अर्थः सत्संगति से भौतिक सुख सुविधाओं के प्रति मोह नष्ट हो जाता है। इससे मन में किसी भी प्रकार की लालसाएँ नहीं रह जातीं। इससे बुद्धि में स्थिरता आ जाती है। इस प्रकार मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है।

विशेषः जीवन्मुक्त से तात्पर्य है जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाना। यह बुद्धि की स्थिरता से ही संभव है। लेकिन गीताचार्य श्री कृष्ण के अनुसार बुद्धि तो चंचल है। इसको वश में करना अत्यंत कठिन कार्य है। लेकिन इसी श्लोक में उन्होंने कहा है कि अभ्यास के द्वारा और भौतिक लालसाओं के प्रति विरक्त होकर इस चंचल बुद्धि को वश में किया जा सकता है। मन की स्थिरता का अभ्यास सत्संग से किया जा सकता है।

इसके विपरीत यदि हमारी संगति अच्छी नहीं है तो उसके प्रभाव से हमारे अंदर काम, क्रोध, मोह आदि विकार उत्पन्न होंगे। इससे हमारी स्मृति का विभ्रम और अंत में बुद्धि का नाश होता है। इन सबके परिणामस्वरुप हमारा सर्वनाश होता है, जैसा कि गीता में कहा गया है। जो परमात्मा में आसक्ति रखता है वही परमात्मा का प्रिय जन है और ऐसे लोगों की संगति ही सत्संगति कहलाती है। यही हमें उन्नत बनाती है।

10. वयसि गते कः काम विकारः
शुष्के नीरे कः कासारः ।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ।। **भज गोविन्दं - - - -**

शब्दार्थः वयसि गते-उम्र के बीत जाने पर, कः- कहाँ, काम विकारः- वासनाएँ, शुष्के नीरे-पानी के सूख जाने पर, कासारः- तालाब, क्षीणे वित्ते-धन के नष्ट हो जाने पर, ज्ञाते तत्त्वे-सत्य का ज्ञान होने पर।

अर्थः युवावस्था के समाप्त हो जाने पर मनुष्य की कामलालसा भी सूख जाती है। जिस प्रकार पानी के सूख जाने पर तालाब का कोई अर्थ नहीं रह जाता, उसी प्रकार धन के समाप्त होते ही परिवार भी कहाँ आपके साथ रह जाता है? सत्य का ज्ञान हो जाने पर संसार की निस्सारता भी समझ में आती है।

विशेषः जवानी जब अपनी तेज रफ्तार में है तब तक वासनाओं और लालसाओं की तीव्रता होती है। धीरे-धीरे यह जोश ठंड़ा पड़ जाता है, शरीर अशक्त हो जाता है तो फिर वासनाएँ भी धीरे-धीरे कम हो जाती

हैं। पानी जब तक है तब तक सरोवर है वरना वह केवल गड्ढ़ा रह जाता है। इसी प्रकार जब तक हमारे पास धन-दौलत, अधिकार और शारीरिक शक्ति है तब तक हमारे साथ बंधु और रिश्तेदार हैं। उसके बाद कौन किसका रह जाता है?

बाह्याकर्षणों से मन को बचाते हुए, अज्ञान को दूर कर मन को निर्मल और निश्चल रखने के प्रयत्नों से ही सत्य के दर्शन होते हैं। यही सत्य ब्रह्म-तत्व कहलाता है। जिसे ब्रह्म-तत्व का ज्ञान हो जाता है वह सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। फिर तो उसमें और परमात्मा में कोई अंतर नहीं रह जाता। यही ''अद्वैत'' में तत्त्वमसि (वही तुम हो) या सोऽहम् (वही मैं हूँ) का अर्थ या सारांश है।

11. मा कुरु धन जन यौवन गर्वं
हरति निमेषात्कालः सर्वम् ।
मायामय मिद मखिलं बुद्ध्वा
ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा ।। **भज गोविन्दं- - - -**

शब्दार्थः मा-मत, कुरु-करो, गर्वं-घमण्ड़, हरति-छीन लेना, निमेषात्-पल भर में, मायामयं-माया (धोखे) से भरा, अखिलं-सारा, बुद्ध्वा-जानकर, त्वं-तुम, प्रविश-प्रवेश करना, विदित्वा-जानकर।

अर्थः अपने धन, परिवार और यौवन को देखकर घमंड़ मत करो क्योंकि पल भर में इन सबका नाश हो जाता है। जो कुछ भी तुम्हारे आस पास है वह सब मिथ्या है, एक छलावा है। इस बात को अच्छी तरह समझ लो। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति के बाद तुम ब्रह्मपद में प्रवेश करो।

विशेषः मेरा परिवार, मेरी चीजें, मेरी खुशियाँ- - - इस प्रकार मैं- - - मैं- - - करते हुए मनुष्य संसार के भ्रम जाल में इस तरह फँसता जाता

है कि वह अपनी ही आत्मा से दूर होता जाता है। उसके विचार, चिन्तन आदि केवल उसकी भौतिकता से लिपटकर रह जाते हैं। वह भूल जाता है कि ये सारे बन्धन क्षणभंगुर होते हैं। कोई भी रिश्ता या नाता अंत तक उसका साथ देने वाला नहीं है। ऐसी क्षणभंगुर चीजों को अपना सर्वस्व मानकर मनुष्य इतराता है। जिस प्रकार अंधेरे में रस्सी को देखकर साँप की भ्रांति होती है उसी प्रकार माया और छल से भरे हुए इस संसार को वह अजर-अमर मान लेता है। इस श्लोक के द्वारा मनुष्य को सावधान किया गया है कि ''हे अज्ञानी मनुष्य! ऐसे नश्वर संसार को अनश्वर मानकर तू भ्रमित न हो। लक्ष्मी चंचल होती है। वह संसार के अति दौलतमंद इनसान को पता नहीं कब दरिद्र बना दे और जो कितने ही दरिद्र हैं उन्हें पलक झपकते धनवान बना दे। धन, यौवन अधिकार और अविवेक, ये चारों इनसान के पतन के मूल कारण हैं। अतः इनके भ्रम में नहीं फँसना चाहिए। तू विवेकी बनकर विचार कर कि क्या शाश्वत है और क्या अशाश्वत। तुम्हारी भलाई वास्तव में किसमें निहित है। जो सत्य है, अमर है, अनश्वर है ऐसे ब्रह्मपद को पहचान और उसे अपना ले।

12. दिनयामिन्यौ सायं प्रातः
शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः
तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ।। **भज गोविन्दं- - - -**

शब्दार्थः दिन यामिन्यौ-रात दिन, पुनः- दुबारा, आयातः-आना, क्रीडति-खेलना, गच्छति-जाना, आयुः-उम्र, तदपि-फिर भी, मुञ्चति-छोडना।

अर्थः दिवस और रात्रि, प्रातः और सन्ध्या, शिशिर और वसन्त ऋतु का आवागमन चलता रहता है। समय की गति या क्रीड़ा में जीवन भी समाप्त हो जाता है फिर भी मनुष्य की वासनाओं का अंत नहीं होता।

विशेषः कालचक्र घूमता रहता है। दिवस के अंत में रात्रि का प्रादुर्भाव छुपा है। रात्रि की समाप्ति दिन के उदय में होती है। शिशिर वसन्त में बदल जाता है और वसन्त ग्रीष्म में। अर्थात् यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। बंद मुट्ठी की रेत की तरह समय फिसलता जाता है और हम पल-पल मृत्यु के निकट होते जाते हैं। भविष्य वर्तमान में बदल जाता है तो वर्तमान भी धीरे-धीरे भूत में परिवर्तित हो जाता है। समय कभी किसी के लिए रुकता नहीं है। यह निरन्तर गतिशील है। सब कुछ जानते हुए भी मनुष्य की कामनाएँ ज्वालाओं के रूप में धधकती रहती हैं। मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता।

मर्यादा पुरुषोत्तम माने जानेवाले, सारे संसार के आदर्श श्री राम ने स्वर्ण हरिण की घटना द्वारा हमारे सामने यही उदाहरण रखा है। वास्तव में क्या स्वर्ण हरिण का अस्तित्व संभव है? इसी प्रकार मनुष्य की लालसाओं का अंत होना या उसका तृप्त होना भी असन्भव है। परन्तु अज्ञानवश वह निरन्तर इस मृगतृष्णा के पीछे भागता रहता है। जब थककर जमीन पर गिर जाता है तब वह काल का ग्रास बन जाता है।

13. का ते कान्ता धनगत चिन्ता
वातुल किं तव नास्ति नियन्ता ।
त्रिजगति सज्जनसंगति रेका
भवति भवार्णवतरणे नौका ।। **भज गोविन्दं- - - -**

शब्दार्थः का-कहाँ, ते-तुम्हारा, धनगत-धन से संबंधित, वातुल-पागल, न अस्ति-नहीं है, नियंता-नियंत्रित करनेवाला, त्रिजगति-तीनों लोकों में,

एका-अकेला, भव अर्णव तरणे-संसार रूपी सागर को पार करने के लिए।

अर्थः अरे पागल! तुम पत्नी, दौलत आदि की चिंता क्यों करते हो? तुम्हारे मार्ग दर्शन करनेवाले परमात्मा का चिंतन करो। इस भवसागर से पार लगानेवाली एकैक नौका तीनों लोकों में केवल सत्संग है।

विशेषः वातुल का एक अन्य अर्थ है जो अपने लक्ष्य से दूर हट गया हो। इस श्लोक में इस संबोधन का प्रयोग इसलिए किया गया है कि मानव मात्र का एकैक लक्ष्य केवल परमात्मा को प्राप्त करना है। लेकिन मानव अपने लक्ष्य को भुलाकर कामिनी, काञ्चन और अन्य वासनाओं में उलझकर उन्हीं को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है। इस प्रकार वह अपने लक्ष्य से दूर भटक जाता है।

इसलिए तू अपनी दौलत आदि के बारे में निरन्तर चिन्ता-मग्न न रहा कर। इससे तुम्हारी मानसिक शक्ति का ह्रास होगा और आत्मबल खो जाने पर तुम्हें किसी काम से सफलता नहीं मिल पाएगी। शंकराचार्यजी कहते हैं कि जो अपने मन और इन्द्रियों को काबू में रखता है उसका विवेक जागृत रहता है और उसे मन की शान्ति प्राप्त होती है। यह सब तभी सम्भव है जब वह सज्जनों की संगति करता है। इसीलिए कहा गया है कि संसार रूपी सागर को पार करानेवाली नौका केवल सत्संग है। जिस प्रकार नौका पानी पर चलती है पर पानी उसमें प्रवेश नहीं करता उसी प्रकार सज्जन संसार में रहते हुए भी संसार से परे रहते हैं।

14. जटिलो मुण्डी लुञ्छित केशः
काषायाम्बर बहु कृतवेषः ।

पश्यन्नपि च न पश्यति मूढो
ह्युदरनिमित्तं बहु कृतवेषः ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः मुण्डी-केश रहित सर, लुञ्छित केशः- उलझी हुई शिखाओं वाला, काषायांबर-गेरुए वस्त्र, बहु कृतवेषः- बहुत से रूप, पश्यन् अपि च-देखकर भी, उदर निमित्तं-पेट भरने के लिए।

अर्थः किसी के बाल उलझकर जटाएँ बन गए हैं तो किसी का सर केश रहित है। किसी के सर पर कहीं-कहीं ही केश दिखते हैं। किसी ने गेरुए वस्त्र पहने हैं। ये सब अपने पेट को भरने के लिए तरह-तरह के रूप धारण किए हुए हैं। ये आँखों के आगे जो सत्य है उसे न देख पानेवाले मूर्ख हैं।

विशेषः इस चौदहवें श्लोक से लेकर आगे आनेवाले चौदह श्लोकों को आदि शंकर के चौदह शिष्यों ने एक-एक करके कहा है। वे अपने गुरु के समान ही विद्वान और महापण्डित थे।

आज की पीढी चाहती है कि कम से कम परिश्रम करके उसे अधिक से अधिक सुख सम्पत्ति मिले। इसके लिए वे किसी भी हद तक अवनीति को अपनाने के लिए तैयार हैं। कुछ अपने कर्त्तव्यों से भागकर सन्यासी बन जाते हैं। इस देश में सम्प्रदायों के पालन को अत्यन्त महत्व दिया गया है। इस श्लोक में शंकर के सबसे प्रमुख शिष्य पद्मपाद गेरुए वस्त्र पहनकर लोगों की मान्यताओं और मनोविज्ञान का गलत फायदा उठानेवालों को सावधान करते हैं। ये लोग अपने आप को महाज्ञानी समझने वाले परम अज्ञानी हैं क्योंकि वे दूसरों के साथ नहीं वरन् अपने आप से छल कर रहे हैं।

15. अङ्गं गलितं पलितं मुण्ड़ं
दशन विहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः अङ्गं-शरीर, गलितं-नष्ट हो जाना, पलितं-बाल पकना, मुण्डं-सिर, दशनविहीनं-दंत रहित, तुण्डम्-मुख, याति-फिरना, गृहीत्वा-लेकर, दण्ड-लकड़ी, मुञ्चति-छोडता है, आशापिण्डम्-लालसाएँ।

अर्थः शरीर में बुढापा आ गया है, बाल पक गए हैं, दाँत गिर गए हैं। मनुष्य बुढापे के कारण लकडी का टेक लेकर (सहारा लेकर) चलता है। फिर भी उसकी इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं।

विशेषः भौतिक सुख लालसाओं का कोई अंत नहीं है। इन सुखों की ओर भागने से चंचल मन को रोकना इतना आसान नहीं होता है जैसा कि गीताचार्य ने कहा है ''मनोदुर्निग्रहम् चलम।''शरीर दुर्बल और रोगग्रस्त है। बुढापा के लक्षण जैसे बाल पकना, दाँतों का गिर जाना आदि प्रारंभ हो गए हैं फिर भी मन की इच्छाएँ हैं कि समाप्त ही नहीं होतीं। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि बचपन से ही इच्छाओं को वश में करना सीखना चाहिए। तब बुढापे में अपने मन को वश में रखना कठिन नहीं रह जाएगा और मन को शान्ति आसानी से प्राप्त होगी। मन की लालसाएँ ही अशान्ति को जन्म देती हैं। मन का संयम ही इच्छाओं पर भी नियंत्रण रखता है। हम मन के दास न बनें बल्कि मन ही हमारा दास हो। अर्थात् जैसे ही मन में इच्छा जागृत होती है वैसे ही हमें ईमानदारी से विचार करना चाहिए कि इस इच्छा की पूर्ति से क्या हमारी वास्तविक भलाई होनेवाली है। इसमें संसार का हित निहित है या

अनहित? यदि उत्तर नकारात्मक है तो तुरन्त उस इच्छा का त्याग करने में ही हमारी भलाई है। इसे शंकराचार्यजी के प्रमुख शिष्य श्री तोटकाचार्यजी ने लिखा है।

16. अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः
रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः ।
करतलभिक्षः तरुतलवासः
तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः अग्रे-सामने, वह्निः-अग्नि, पृष्ठे-पीछे, भानु-सूर्य, चिबुक समर्पित जानु-घुटनों से ठोढ़ी लगाकर, करतल भिक्षः- हाथों में भीख, तरुतलवासः- पेड़ के नीचे निवास करना, मुञ्चति-त्याग करना, आशापाशः- आशाओं के बन्धन या जाल।

अर्थः उसके सामने अग्नि, पीछे सूरज होते हैं। रात को घुटनों पर ठोढ़ी टिकाकर बैठता है। भिक्षा माँगकर जीवन यापन करता है और पेड़ के नीचे उसका निवास है, फिर भी उसे आशाओं के जाल से मुक्ति नहीं मिलती।

विशेषः मानव किस तरह वासनाओं में उलझा रहता है यह इस श्लोक में बताया गया है। पहलेवाले श्लोक में बताया गया था कि एक गृहस्थ किस तरह वासनाओं में फँसा रहता है और इस श्लोक में यह बताया गया है कि सन्यासी होने पर जरूरी नहीं है कि लालसाओं से छुटकारा मिल ही जाय। यह एक भयंकर और कटु सत्य है।

जीवन की सारी सुख सुविधाओं को त्यागकर संसार के बन्धनों से दूर, शरीर पर पूर्ण वस्त्रों के अभाव में, भिक्षाटन कर, किसी पेड़ के नीचे

जीवन यापन करनेवाला साधु, जो ठण्ड़ से बचने के लिए धूप का सहारा लेता है या घास फूस की अग्नि के पास घुटनों पर ठोढी टिकाकर, सारे शरीर को समेट कर बैठता है और इस तरह अपनी ठंड को दूर भगाने की कोशिश करता है, उसे भी लालसाओं के जाल से मुक्ति नहीं मिलती। वह संन्यास लेकर कभी-कभी पछताता भी है या कभी भोग विलास में लिप्त व्यक्तियों को देखकर उसे ईर्ष्या भी होती है। पहली बात तो यह है कि वह सच्चा साधु नहीं है। दूसरी बात यह है कि विषय वासनाओं से दूर रहने की कोशिश करनी चाहिए।

इस श्लोक को श्री हस्तामलकजी ने लिखा था।

17. कुरुते गङ्गा सागर गमनं
व्रतपरिपालन मथवा दानम् ।
ज्ञानविहीनः सर्वमतेन
भजति न मुक्तिं जन्मशतेन ।। भज गोविन्दं- - - -

शब्दार्थः कुरुते-करता है, गङ्गा सागर गमनं-गंगा सागर को जाना, व्रत परिपालनं-व्रत रखना, दानम्-दान देना, ज्ञान विहीनः- अज्ञानी, सर्वमतेन-सभी मतों के अनुसार, जन्म शतेन-सौ जन्मों में।

अर्थः चाहे कोई गंगा सागर (जिस जगह गंगा नदी समुद्र से जाकर मिलती है और उस स्थान को बहुत पवित्र माना जाता है) में स्नान करे, व्रत रखे या दान धर्म करे, अगर उसे सच्चा ज्ञान नहीं है अर्थात् सभी धर्मो को एक नहीं मानता तो उसे सौ जन्मों में भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

विशेषः श्री हस्तामलक के श्लोक के विचारों के साथ अपने विचारों को जोड़ते हुए श्री सुबोध ने उसे आगे बढ़ाते कहा सांसारिक जीवन में

रहते हुए लोग तीर्थ यात्राएँ करते हैं, व्रत उपवास और दान धर्म करते हैं। इससे विचारों की पवित्रता, जीवन में अनुशासन आते हैं। पर केवल इन्हीं के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। ये केवल मन को स्थिरता देते हैं और स्थिर मन ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। ज्ञान के बिना सौ जन्मों में भी मुक्ति नहीं मिल सकती। सभी शास्त्रों और सभी धर्मों की यही घोषणा है।

यहाँ गंगासागर का दूसरा अर्थ यह है कि गंगा जहाँ बहती है यानी काशी और सागर जहाँ है अर्थात् रामेश्वरम्। इसलिए इस वाक्य का यह अर्थ भी लगा सकते हैं कि काशी रामेश्वरम् आदि पवित्र तीर्थ स्थलों का पर्यटन करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। ये केवल परमात्मा तक पहुँचने के साधन मात्र हैं।

18. सुरमन्दिर तरुमूल निवासः
शय्या भूतल मजिनं वासः ।
सर्व परिग्रह भोगत्यागः
कस्य सुखं न करोति विरागः ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः सुरमन्दिर तरु मूल निवासः- देवालयों में वृक्षों के नीचे रहकर, शय्या-बिस्तर, भूतलं-धरती पर, अजिनं-मृगचर्म, हरिण का चर्म

अर्थः मंदिरों में किसी वृक्ष के नीचे निवास करते हुए, खुली जमीन पर सोते हुए, केवल मृगचर्म को धारण करते हुए, सांसारिक सुखों का त्याग कर, वासनाओं से दूर रहनेवाले और वैराग्य धारण करनेवाले व्यक्ति को सुख की प्राप्ति क्यों नहीं होगी अर्थात् वैराग्य के द्वारा ही सुख की प्राप्ति होगी।

विशेषः मन, कर्म, वचन से जो सांसारिक सुखों को त्याग दे और वैराग्य का मार्ग अपनाए उसी को सुख की प्राप्ति होती है। किसी के पास चाहे कितनी भी धन-दौलत हो, सत्ता हो, ज्ञान हो या संसार की सारी श्रेष्ठतम वस्तुएँ हों फिर भी वह दुःखी है। लेकिन जिसने सब कुछ त्याग दिया, जिसकी कोई इच्छा नहीं है वही व्यक्ति सबसे अधिक सुखी है।

जिसके पास अधिक धन है उसे उस धन को सँभालकर रखने की या उसे दुगुना करने की लालसा रहती है। लालसा के साथ चिन्ता जुड़ जाने से व्यक्ति बेचैन रहता है। यह चिन्ता उसे प्रभु से विमुख कर देती है। सच्चा आनंद और शांति प्रभु स्मरण में है। सांसारिक सुखों को त्यागने से ही इस परमानंद की प्राप्ति होती है।

19. योगरतो वा भोगरतो वा
सङ्गरतो वा सङ्गविहीनः ।
यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तं
नन्दति नन्दति नन्दत्येव ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः योगरतः- योग में मग्न, सङ्गरतः- लोगों की संगति में डूबा, सङ्गविहीनः- एकांत में रहना या भीड़ से दूर, यस्य-जिसका, रमते-बसना, नन्दति-आनन्दित, नन्दत्येव-वही आनन्दित।

अर्थः चाहे कोई योगी हो या भोगी (भोग करने वाला), चाहे सादा लोगों से घिरा हुआ हो या एकांत प्रेमी हो, जिसका चित्त परब्रह्म में रम जाता है वही पूर्णानन्द प्राप्त कर सकता है।

विशेषः जिसका मन स्थिर और शान्त है वह चाहे योगी हो या भोगी, भीड़ में है या अकेला उसका मन स्थिर और निश्चल रहता है अर्थात् बाह्य परिस्थितियों का उस पर कोई असर नहीं होता और ऐसे स्थितप्रज्ञ

मनुष्य को ही निर्मलानन्द की प्राप्ति होती है। उसका हृदय एक मन्दिर की तरह शान्त, पवित्र और निर्मल होता है। वह लालसाओं बन्धनों, सुख या दुःख से परे होता है। गीता में कहा भी गया है कि जो अशांत है उसे सुख कैसे मिल सकता है? ''अशांतस्य कुतः सुखम्।''

किसी के मन में यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि अगर भोगी होकर अर्थात् सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुए भी यदि हमें ब्रह्मानंद की प्राप्ति हो सकती है तो हम योग साधना जैसे कठिन मार्ग को क्यों अपनाएँ? खाते, खेलते, मौज करते हुए, भौतिक सुखों का आनंद उठाते हुए भी हम ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर सकते हैं। इस श्लोक का यह अर्थ कदापि नहीं है। इस श्लोक में श्री नित्यानन्द स्वामी जी यह कहना चाहते हैं कि जो ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर चुका हो वह चाहकर भी भोगी नहीं बन सकता, क्योंकि उस आनन्द के आगे हर आनन्द फीका है। इसका एक उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि वैद्य अपने छुरे से शस्त्र चिकित्सा कर प्राणदान करता है, वह प्राण नहीं हरता। उसी प्रकार ब्रह्मानन्द प्राप्त व्यक्ति अच्छाई की ओर ही बढता है, बुराई की ओर नहीं।

20. भगवद्गीता किञ्चिादधीता
गङ्गा जल लव कणिका पीता ।
सकृदपि येन मुरारि समर्चा
क्रियते तस्य यमेन न चर्चा ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः किंचित्-थोडा भी, अधीता-अध्ययन करना, गङ्गाजल लव कणिका-गंगा जल का एक बूंद, सकृत अपि-कम से कम एक बार, येन-जिसके द्वारा, मुरारि समर्चा-भगवान मुरारि की आराधना (मुरारि-मुरस्य अरिः-मुरा नामक राक्षस का दुश्मन) क्रियते-किया गया, तस्य-उसके लिए।

अर्थः जिसने जिन्दगी में एक भी बार श्री गीता जी का पाठ किया हो, जिसने गंगा जल का एक बूंद भी पिया हो और जिसने मुरारि (ईश्वर) की एक बार भी आराधना की हो उसे कभी भी यमराज (मृत्यु के देवता) से चर्चा (तकरार) की जरूरत नहीं पडेगी। अर्थात् उसे मृत्यु का भय नहीं होगा।

विशेषः इस श्लोक में श्री आनन्दगिरि स्वामी जी ने स्वच्छ और पवित्र जीवन जीने के तीन मार्ग बताए हैं। पहला है श्री मद्भगवद्गीता का नित्य पठन। गीता उपनिषदों का सार है जो पुरुषोत्तम वासुदेव के मुख कमल से निकली है। कहते हैं कि गीता जी के केवल एक श्लोक के प्रतिनित्य पठन करने से किसी और वेद, पुराण या उपनिषद के पठन की आवश्यकता नहीं है। उन सबका सार इसमें निहित है। इसके पठन से मानव, मन, वचन और कर्म से पवित्र हो जाता है और जीवन के तत्त्व को समझ जाता है। वह समझ जाता है कि किन विधियों का अनुसरण करके वह अपने लक्ष्य (ईश्वर प्राप्ति) तक पहुँच सकता है।

दूसरा मार्ग है गंगा जल का सेवन। ऐसा माना जाता है कि गंगा देव नदी है जिसने भगीरथ के प्रयत्नों से मानव कल्याण के लिए धरती पर आने का निश्चय किया। परमशिव की कृपा से सुरसरि के रूप में वह धरती पर आई। इस देव नदी का जल अत्यंत पवित्र माना जाता है। ज्ञान की तुलना गंगा से की जाती है। जिस प्रकार निरन्तर प्रवाहित गंगा जल शीतलता प्रदान करता है, प्यासे की प्यास बुझाता है और पवित्र बनाता है उसी प्रकार ज्ञान भी निरन्तर प्रवाहित है। ज्ञान प्राप्ति का कोई अन्त नहीं होता। वह वासनाओं के प्रति हमारे आकर्षण रूपी ताप को मिटाकर मन को शाँन्ति प्रदान करता है, ज्ञान प्राप्त करने की तृष्णा को तृप्त करता है।

तीसरा मार्ग है ईश्वर की आराधना। यहाँ ''मुरारी'' शब्द का विशेष प्रयोग किया गया है। पुराणों में ''मुरा'' नामक राक्षस की चर्चा है जिसका वध भगवान विष्णु ने किया था। इसीलिए वे ''मुरारी'' कहलाते है। ''मुरा'' मनुष्य के अहंकार का प्रतीक है। जब तक हमारे अंदर के अहंकार का हनन नहीं होता तब तक सत्य के दर्शन नहीं होते। हमारे सारे झगड़ों, कठिनाइयों और समस्यओं का मूल है हमारा अहंकार। अगर हम इसका अन्त कर दें तो चिरंतन शाँन्ति की प्राप्ति होती है। अहंकार का खण्डन तभी हो सकता है जब हम मुरारी (अहंकार को नष्ट करने वाला) की शरण में जाते हैं और उसकी आराधना करते हैं।

अजामिल ने आजीवन पाप और अत्याचार किए थे परंतु मृत्युशैय्या पर नारायण नाम के अपने बेटे को एक बार पुकारा। प्रभु कितने दयार्द्र हृदयी हैं कि तुरंत उसे विष्णुलोक में स्थान दिया।

21. पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी जठरे शयनम् ।
इह संसारे बहु दुस्तारे
कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ।। **भज गोविन्दं - - - -**

शब्दार्थः पुनः+अपि-फिर से, जननं-जन्म, मरणं-मृत्यु, जननी-माता, जठरे-गर्भ में, शयनम्-सोना, इह संसारे-इस संसार में, बहु दुस्तारे-जिसे पार करना बहुत कठिन हो, कृपया-कृपाकर, अपारे-जिसका अंत न हो, पाहि-रक्षा कीजिए, मुरारे-मुरा(राक्षस) का अन्त करने वाले।

अर्थः जनम-मरण और माता के गर्भ का वास-इस संसार में यह चक्र बार-बार चलता रहता है। हे मुरारी! मुझ पर दया कीजिए और इस जटिल चक्र से मुझे बचा लीजिए।

विशेषः जगत में जिस प्राणी का जन्म हुआ है उसकी मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। इस चक्र से कोई नहीं बच सकता। हम अपने अहंकार और वासनाओं के द्वारा प्रेरित होकर अनेक कर्म करते हैं। कुछ कर्मों का फल तो हमें इसी जन्म में मिल जाता है। पर कुछ शेष रह जाते हैं। इन कर्मों के फल को भोगने के लिए हमें एक और जन्म लेना पड़ता है। हम सत्य को पहचान नहीं पाते। अपने शरीर को, वासनाओं को, चारों ओर की चीजों को और घटनाओं को ही सत्य और चिरन्तन मानकर चलते हैं। स्वार्थ के मोह में हम इस प्रकार फँस जाते हैं कि बाहर निकलना कठिन हो जाता है और जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। इस अनन्त यातना से हमें केवल ईश्वर ही बचा सकते हैं। वे अत्यन्त दयालु हैं। हमारे पापों को 'क्षमाकर उद्धार करने' में समर्थ हैं। इसलिए बार-बार गीता में श्री कृष्ण ने कहा है ''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' अर्थात् पूर्ण शरणागति करो और आगे उन्होंने कहा है

''अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

मैं स्वयं तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुलसीदासजी ने भी अपनी विनय-पत्रिका में बार-बार यही प्रार्थना की है कि ''हे श्रीराम! मुझे जन्म-मृत्यु तथा मातृ गर्भ वास की कठिन यातनाओं से मुक्ति दीजिए।''

22. रथ्याचर्पटविरचितकन्थः
पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थाः
योगी योगनियोजितचित्तो
रमते बालोन्मत्तवदेव ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः रथ्या-पथ, चर्पट-कपड़े की चिंदियाँ, विरचित-बना हुआ, कन्थः-दुशाला, विवर्जित-त्याग देना, योग नियोजित चित्तः- जिसका मन योग

में लगा हुआ है, रमते-खेलना, बालवत् एव-बच्चे के समान, उन्मत्तवदेव-पागल के समान।

अर्थः कंधे पर एक दुशाला डालकर, पाप और पुण्य से परे अपने ही पथ पर, योग में तल्लीन होकर जो योगी चलता है वह एक अबोध बालक की तरह या एक पागल की तरह प्रसन्नचित्त रहता है।

विशेषः श्री नित्यानन्द स्वामीजी द्वारा विरचित इस श्लोक में ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के बाद किसी योगी की मानसिक स्थिति का सुन्दर चित्रण किया गया है। तब उस योगी की स्थिति ऐसी सरल, स्वच्छ और अमलिन होती है जैसे छल-कपट रहित एक बालक की होती है। ऐसा ही निष्कपट और सरलचित्त एक पागल का भी होता है। जो भीड़ में रहकर भी अपनी ही दुनिया में मस्त रहता है। जिस प्रकार बच्चों और पागलों को अपने अतीत या भविष्य से कोई संबंध नहीं होता, वे केवल उसी पल में जीते हैं, उसी प्रकार सच्चे योगी के लिए काल का बंधन नहीं होता।

यहाँ यह बताया गया है कि ये सन्त पुरुष अपने लिए कुछ नहीं चाहते। उनकी आवश्यकताएँ सीमित हैं। फटे पुराने चिथड़ों से बनी गुदड़ी को ओढ़कर जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरी करता है। उसकी कोई इच्छाएँ या अपेक्षाएँ नहीं होतीं।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि हमारे पूर्वजों और हमारी जिन्दगी में कितना विरोधाभास है। हमारे पूर्वज इस आदर्श को लेकर चलते थे कि अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखते हुए उनसे जितना हो सके उतना संसार को दें। इस निस्वार्थ सेवा से उन्हें एक दिव्य अलौकिक आनन्द और मानसिक तृप्ति की प्राप्ति होती थी।

आज का मानव इस सिद्धांत का पुजारी है कि हमारी तरफ से कुछ न जाय बल्कि जितना हो सके उतना हम दुनिया से नोच खसोटकर अपनी तिजोरी भरें। शायद आज की अशान्ति और दुःख का कारण मानव की यही लालच और आवश्यकता से अधिक महात्वाकाँक्षा है।

23. कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारः (निजसंसारं)
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारः ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः कः-कौन, त्वम्-तुम, कुत-कहाँ से, आयातः- आया हूँ, मे-मेरी, जननी-माता, तातः- पिता, परिभावय-विचार करना, असारं-सार रहित, त्यक्त्वा-छोड़कर, स्वप्न विचार-स्वप्न सदृश्य

अर्थः तुम कौन हो? मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मेरी माता कौन है? मेरे पिता कौन हैं? सार रहित, भावात्मक और स्वप्न सदृश इस विश्व को एक तरफ रखकर इन तथ्यों के बारे में विचार करो।

विशेषः मानव जीवन विचित्र है। संसार में लाखों-करोड़ों प्राणी हैं जो जन्म लेते हैं वे अपना जीवन जीते हैं फिर उनकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है पर मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसके जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक रिश्ते-नाते और बन्धन होते हैं। केवल लोगों से ही नहीं अपनी आस-पास की वस्तुओं से भी वह एक अटूट बन्धन जोड़ लेता है। वह यह भूल जाता है कि ये सारे बन्धन जो वह जोड़ रहा है वे नश्वर हैं। यह संसार और यहाँ की सारी वस्तुएँ एक कल्पनामय स्वप्न लोक जैसी हैं। जिस प्रकार नींद से जागने पर स्वप्न टूट जाता है उसी प्रकार जीवन के अन्त में न यह संसार रह जाता है और न ये रिश्ते नाते।

इसलिए हमें इस प्रकार जीना चाहिए जिस प्रकार कमल के पत्ते पर पानी की बूँद बिना उसे स्पर्श किए रहती है। अर्थात् यह मेरा है, इस पर मेरा अधिकार है, इसके बिना मेरी जिन्दगी नहीं चल सकती, इस प्रकार के अन्ध मोह का त्याग करने पर ही सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होगी, जो हमें मुक्ति मार्ग दिखा सकती है।

24. त्वयि, मयि चान्यत्रैको विष्णुः
व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः ।
भव समचित्त स्सर्वत्र त्वं
वांछस्यचिराद्यदि विष्णुत्वम् ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः त्वयि-तुममें, मयि-मुझमें, अन्यत्र-दूसरे स्थान में, कुप्यसि-तुम क्रोधित होते हो, असहिष्णुः- असहनीय, भव-हो जाना, समचित्तः-एक सोचवाले, सर्वत्र-सब जगह, वांछसि यदि-यदि तुम चाहते हो, अचिरात्-अतिशीघ्र

अर्थः तुझ में, मुझमें या अन्य सभी स्थानों में एक ही विष्णु का वास है। इस बात को न समझते हुए तुम व्यर्थ ही क्रोध कर रहे हो। अगर तुम शीघ्र ही विष्णुत्व (ईश्वर का सायुज्य) पाना चाहते हो तो तुम्हें सब लोगों से और सब परिस्थितियों में समत्व का व्यवहार करना चाहिए।

विशेषः समत्व और संतुलित व्यवहार कैसे प्राप्त किया जा सकता है? श्रीकृष्ण ने कहा है ''अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गुह्यते।'' केवल बार-बार अभ्यास करने से और सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति निर्लिप्त होकर ही मन को शान्त और संतुलित रखा जा सकता है। मन संतुलित हो तो ऊँच, नीच, महान, तुच्छ, पशु पक्षी आदि के प्रति

समदृष्टि रखने में आसानी होती है। जिसमें समदृष्टि उत्पन्न हो जाती है वह मनुष्य महान और सबके लिए वन्दनीय हो जाता है।

25. शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ
मा कुरु यत्नं विग्रहसन्धौ ।
सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं
सर्वत्रोत्सृज भेदाज्ञानम् ।। **भज गोविन्दं - - - -**

शब्दार्थः बन्धौ-रिश्तेदार, मा-कभी नहीं, यत्नं-कोशिश, विग्रहसंधौ-दुश्मनी या दोस्ती, सर्वस्मिन् अपि-सबमें या सब जगह, पश्य-देखो, आत्मानं-अपने आपको, उत्सृज-त्याग दो, भेद अज्ञानम्-अज्ञान से उत्पन्न परायापन।

अर्थः शत्रुओं से, मित्रों से, सन्तान से या सम्बन्धियों से अलगाव या सन्धि के लिए व्यर्थ के प्रयत्न मत करो। अज्ञान जनित भेद बुद्धि को त्यागकर सबमें और सर्वत्र अपने आपको देखो।

विशेषः इस श्लोक का केंद्र भाव यह है कि मनुष्य जितना प्रेम अपने आपसे करता है उतना किसी से भी नहीं करता। वह अपने शरीर के किसी सडे गले अंग को भी अपने आपसे अलग करना नहीं चाहता। किसी प्रकार उसी से काम चलाता रहता है। तो फिर वह अपने भाई से, जो उसी का खून है, उसके परिवार का हिस्सा है, उससे इतना क्रोध और नफ्रत क्यों? यहाँ तक कि उसकी पत्नी और उसके बच्चों से भी यही भाव रखता है।

जब सारा संसार एक ही सत्व के गर्भ से उत्पन्न हुआ है तो तेरा मेरा और अपना-पराया का भेदभाव कैसा? सबको अपना ही प्रतिबिम्ब जानो और जितना प्रेम स्वयं से करते हो उतना ही सबसे करो।

इस श्लोक में ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना की स्थापना है। सन्देश है कि यह सारा संसार प्रेममय है। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि घृणित भावों से अपने मन को कुण्ठित न करो। इससे तुम्हें दुःख ही होगा। सारे विश्व को केवल प्रेम से ही अपना बनाया जा सकता है। स्वयं से तुम जितना प्रेम करते हो उतना ही विश्व के हर प्राणी से करो। अपने मन में ईर्ष्या और द्वेष को स्थान देकर दुःख और अशान्ति को निमन्त्रण मत दो।

26. कामं, क्रोधं, लोभं, मोहं
त्यक्त्वाऽत्मानं पश्यति सोऽहम् ।
आत्मज्ञान विहीना मूढाः
ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः ।। **भज गोविन्दं - - - -**

शब्दार्थः कामं-इच्छाएँ, लोभं-लालच, त्यक्त्वा-त्यागकर, आत्मानं-स्वयं को, पश्यति-देखना, सोऽहम् (सः+अहम्) - वही मैं हूँ, विहीना-बिना, ते-वे, पच्यन्ते-कष्ट उठाते हैं, नरक निगूढाः-नरक का रहस्य

अर्थः काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का त्याग करनेवाला व्यक्ति स्वयं में ईश्वर के दर्शन करता है। आत्मज्ञान रहित व्यक्ति नरक में पड़कर घोर कष्ट उठाते हैं।

विशेषः काम, क्रोध आदि मानसिक दुर्बलताएँ हमारे और ईश्वर के बीच में धुन्ध बनकर हमें ईश्वर के दर्शन नहीं करने देते हैं। जब तक इस कोहरे से हम बाहर नहीं निकलते तब तक उस अलौकिक, अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। ''सोऽहं'' अर्थात् ''वही मैं हूँ''- यही धारणा ''अद्वैत मत'' का आधार है। यह सिखाता है कि अपने आप में ईश्वर के दर्शन करो। जिसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है उसे यह संसार

सुन्दर, आनन्दमय और सुखमय दिखता है और जिसे इसकी प्राप्ति नहीं होती उसे संसार में सब कुछ कष्टमय और गलत दिखता है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह संसार हमारे रहने की जगह नहीं है। इस श्लोक को श्री भारती वंश जी ने लिखा है।

27. गेयं गीतानामसहस्रं
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं
देयं दीनजनाय च वित्तम् ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः गेयं-गाने योग्य, सहस्रं-हजार, ध्येयं-लक्ष्य, श्रीपतिरूपं लक्ष्मी के पति (विष्णु) का रूप, अजस्रं-हमेशा, नेयं-(मन को) प्रोत्साहित करना, सज्जन सङ्गे-सत्संग, देयं-बाँटना, वित्तम्-दौलत।

अर्थः श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णु सहस्रनाम का पठन करते रहना चाहिए। लक्ष्मीजी के पति अर्थात् भगवान विष्णु की आराधना करते रहना चाहिए। अपने मन को सत्संग की ओर प्रोत्साहित करना चाहिए। जरूरतमंद और दीन दुःखियों को अपने पास जो भी है उसमें से कुछ दान करना चाहिए।

विशेषः यह श्लोक श्री शंकराचार्य जी के चौदह शिष्यों में से अन्तिम शिष्य श्री सुमति द्वारा रचित है। चौदह शिष्यों द्वारा कहे गए इन चौदह श्लोकों को ''चतुर्दश मञ्जरिका स्तोत्रम्'' कहा जाता है तथा शंकराचार्य जी द्वारा विरचित प्रथम बारह श्लोकों को ''द्वादश मञ्जरिका स्तोत्रम्'' कहते हैं। ये श्लोक उनकी काशी यात्रा के समय लिखे गए थे जब चौदह शिष्य उनके साथ थे।

जो आध्यात्मिक चिन्तन के प्रति रुचि लेते हैं उन्हें निम्नलिखित चार प्रक्रियाओं का अवश्य आचरण करना चाहिएः

१. श्रीमद्भगवद्गीता का पठन

२. श्री लक्ष्मी नारायण की आराधना

३. सत्संग का अभ्यास

४. दीन दुःखियों की सेवा

गीता सब शास्त्रों का सार है। स्वयं भगवान विष्णु के मुख कमल से निसृत है। यह रामायण, महाभारत आदि पुराणों की तरह कोई कथा नहीं है बल्कि एक आदर्श जीवन का पथ प्रदर्शक है। वह हमारे जीवन और हमारी विचारधारा को संयमित और नियन्त्रित करता है। यह आध्यात्मिक जीवन का प्रथम चरण है। अगला चरण है श्री लक्ष्मी नारायण की आराधना (या नित्य विष्णुसहस्र नाम का पठन)। इससे चित्त को स्थिरता और पवित्रता प्राप्त होती है। हमारे चित्त को विषय वासनाओं की ओर भटकने से बचाता है सत्संग। केवल फल पुष्प चढ़ाकर घंटों मंत्रोच्चार करने से प्रभु की सेवा नहीं होती बल्कि सुमति जी के अनुसार मानवों की (दुखियों की) सेवा ही माधव की सेवा है। इन चारों को इसी क्रम में अपनाकर हम मुक्ति के पथ पर एक-एक कदम आगे बढ सकते हैं।

28. सुखतः क्रियते रामाभोगः
पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः ।
यद्यपि लोके मरणं शरणं
तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः सुखतः- सुख के लिए, रामाभोगः- इन्द्रिय सुखों की लालसा, पश्चात्-बाद में, यद्यपि-जब कि, तदपि-फिर भी, पापाचरणं-बुरा आचरण।

अर्थः इंद्रिय सुखों में लिप्त होकर शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। इस संसार में रहते हुए मनुष्य का अन्तिम चरण मरण होने पर भी वह अपने बुरे आचरण को नहीं छोड़ता।

विशेषः २८ से लेकर ३१ तक अर्थात् अन्तिम चार श्लोकों की रचना पूरे ग्रंथ के उपसंहार के रूप में श्री शंकराचार्यजी ने की है। यहाँ अद्वैत मार्ग की साधना करनेवाले साधकों को आचार्य जी ने सम्बोधित करते हुए कहा है कि सभी प्राणियों में मानव जन्म सर्वोत्कृष्ट है। ऐसा उन्नत जन्म पाकर भी मनुष्य पाशविक विषय वासनाओं के पीछे भागकर अपने जीवन को नष्ट करता है तो यह उसकी मन्दबुद्धि की ओर संकेत करता है। वासनाएँ इतनी भयंकर होती हैं कि दिन-प्रति -दिन इनकी तीव्रता बढ़ती ही जाती है। इनकी लालसा में मनुष्य, मनुष्य से पशु और फिर दानव बन जाता है और अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए किसी भी हद तक गिर सकता है। इससे उसका शरीर जर्जर और रोगग्रस्त हो जाता है। शास्त्रों में बार-बार कहा गया है कि जो प्राणी जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। यह चिरन्तन सत्य है। इस बात को हर कोई जानता है फिर भी पापाचरण का त्याग नहीं करता है।

यही तो माया है। इसी के कारण हम वासना पूर्ति के लिए गलत काम करते हैं और ये ही वासनाएँ हमें आध्यात्म से दूर खींचती है। इसी प्रकार जिन्दगी में इसी भले बुरे के संघर्ष में अपने आपको बचा कर आध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होनेवाला ही सच्चा ज्ञानी है।

29. अर्थ मनर्थं भावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशस्सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः
सर्वत्रैषा विहिता रीतिः ।। **भज गोविन्दं - - - -**

शब्दार्थः भावय-विचार करना, नित्यं-सदा, न अस्ति-नहीं है, ततः- इससे, सुख लेशः- लेश मात्र भी (थोड़ा भी) सुख, पुत्रात् अपि-पुत्रों से भी, धनभाजां-धनवान, भीतिं-डर, एषा-यह, विहिता-भिन्न प्रकार के, रीति-रिवाज, पद्धति।

अर्थः इस सत्य को सदैव याद रखो कि धन ही सब दुःखों का मूल है। दौलत तुम्हें कोई सुख नहीं दे सकती। धनवान व्यक्ति को धन के संरक्षण के लिए अपने पुत्रों से भी भय बना रहता है। यही धन की रीत है।

विशेषः इस श्लोक में आदि शंकर धन लालसा से उत्पन्न होनेवाली अनेक समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। कई लोगों का यह मानना है कि धन-दौलत से अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है और इससे सुख शांति प्राप्त होगी। परंतु वास्तविकता तो यह है कि धनी व्यक्ति न मन चाहा खा सकता है, न रात को चैन की नींद सो सकता है। वह हर किसी से ड़रता है और शक की नजर से देखता है। यहाँ तक कि वह अपनी ही सन्तान पर भी विश्वास नहीं कर सकता।

यह श्लोक यह नहीं कहता है कि जीने के लिए धन की आवश्यकता नहीं है। यह तो सभी जानते हैं कि आवश्यकता से अधिक लेने पर अमृत भी विष बन जाता है। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक धन की लालच भी इनसान को हानि पहुँचाती है। उसे पतन के गर्त में गिराती है।

धन के आगे माता, पिता, भाई, बन्धु, दोस्त आदि रिश्तों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। यही धन की रीत है।

30. प्राणायामं प्रत्याहारं
नित्यानित्य विवेक विचारम् ।
जाप्य समेत समाधि विधानं
कुर्ववधानं महदवधानम् ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः प्राणायामं-श्वास प्रश्वास को नियंत्रित करना, प्रत्याहारं-इन्द्रिय सुख का त्याग, नित्य अनित्य विवेक विचारं-शाश्वत और अशाश्वत की पहचान, जाप्य समेत समाधि विधानं-जप समेत समाधि अवस्था प्राप्त करना, अवधानं-पूरा ध्यान देना।

अर्थः प्राणायाम करो। विषयवासनाओं का त्याग करो। नश्वर अनश्वर का विवेक रखो। जप सहित समाधि अवस्था को प्राप्त करो और इन सबके द्वारा तुम्हें महान एकाग्रता प्राप्त होगी।

विशेषः आचार्य शंकर ने प्रारंभ में कंचन और कामिनी का त्याग करने को कहा था जो कि मनुष्य के पतन के प्रधान कारण हैं। इससे भौतिक वासनाओं का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार मनुष्य की उन्नति के लिए पंच सोपान मार्ग का निर्देश किया गया है। भौतिक विषय वासनाओं के नियन्त्रण के बाद दूसरा सोपान है गीताध्ययन, तीसरा है लक्ष्मी नारायण की उपासना, चौथा है सत्सङ्ग तथा पाँचवाँ है जरूरतमंदों को दान देना। इन पांच सोपानों के पथ को हम बहिरंग साधना भी कहते हैं।

उपर्युक्त श्लोक में आचार्यजी ने अंतरंग साधना के तत्वों के बारे में बताया है। इनमें से पहला हैः

१. प्राणायाम के द्वारा सभी जीव प्रक्रियाओं का नियन्त्रण। यहाँ प्राणायाम का अर्थ ''श्वास नियन्त्रण व्यायाम'' नहीं है बल्कि प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान नामक पाँच वायुओं को क्रमबद्ध करना है।

२. दूसरा है प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियों से सम्बन्धित चपलताओं से दूर रहना।

३. तीसरा है नित्य और अनित्य का विवेक।

४. जप।

५. पाँचवाँ इन सबका सामूहिक प्रभाव या समाधि। समाधि की स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति सभी कामनाओं और चंचलताओं से परे बिना किसी विचार के एक शान्त और स्थिर स्थिति में होता है। इस स्थिति में पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए ईश्वर साक्षात्कार अति सुलभ हो जाता है। इसी को अद्वैत कहते हैं जहाँ आत्मा का मिलन ईश्वर से हो जाता है अर्थात् ईश्वर और आत्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

31. गुरुचरणांबुज निर्भर भक्तः
संसारा दचिरा द्भव मुक्तः ।
सेन्द्रिय मानस नियमा देवं
द्रक्ष्यसि निज हृदयस्थं देवम् ।। भज गोविन्दं - - - -

शब्दार्थः चरणांबुज-चरण कमल (कमल जैसे चरण) अचिरात्-शीघ्र ही, भव मुक्तः- संसार से मुक्त, सेन्द्रियमानस नियमात्-इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण, द्रक्ष्यसि-देखोगे, निज-अपने, हृदयस्थं-हृदय में स्थित, देव-परमात्मा।

अर्थः गुरु के चरण कमलों पर अनन्य भक्ति रखनेवाले हैं भक्त शिरोमणि! अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में कर लेने के कारण

तुम शीघ्र ही सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार अपने ही हृदय में स्थित परमात्मा का दर्शन कर पाओगे।

विशेषः गुरु के बताए मार्ग पर चलकर सफलता प्राप्त करने के लिए उनके प्रति श्रद्धा और विश्वास का होना जरूरी है। विश्वास ही हमें आगे बढ़ने के लिए अनन्त शक्ति और ऊर्जा देती है। विश्वास उसे कहते हैं जिसके द्वारा उस वस्तु पर भरोसा करते हैं जिसे कभी देखा नहीं। परिणामस्वरूप उस अनदेखे का साक्षात्कार होता है।

जिसके मन में अपने गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति और विश्वास है वही इस आध्यात्म मार्ग में पदार्पण करके सफलता प्राप्त कर सकता है।

यहाँ आचार्य अपनी पूर्व पीढ़ियों और आगामी पीढ़ियों के शिष्यों को आशीर्वाद देते हुए, उनका मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं तुम मन, वचन और कर्म से अपने गुरुचरणों की भक्ति करो, अपने आपको उनके प्रति समर्पित कर दो। वे ही तुम्हें मुक्ति मार्ग पर ले जाएँगे।

आचार्य शंकर के गुरु का नाम श्री गोविन्दाचार्य जी था। इसीलिए अपने इस ग्रंथ का प्रारंभ उन्होंने ''भज गोविन्दं'' से किया अर्थात् गुरु और गोविंद को एक रूप माना।

तत् सत्

* * *